आदर्श वीरांगना—
रानी लक्ष्मीबाई

सन् १८५७ का गदर भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। पिछले एक हजार वषो से भारतवासी निरंतर विदेशियों से दबते चले जाते थे। वीरता और शौर्य में तो वे किसी प्रकार कम नहीं थे, यहाँ के क्षत्रियों के समान निर्भय होकर लड़ने वाले सैनिक संसार में ढूँढ़ने पर भी मिलना कठिन थे; पर आपस की फूट और असंगठन के कारण उनको प्रायः पराजय और असफलता का ही मुख देखना पड़ता था। मुसलमानी शासनकाल में तो फिर भी वे समय-समय पर अपनी वीरता का चमत्कार दिखाते रहते थे, पर अंग्रेजी हुकूमत में सबको इस प्रकार बाँध दिया गया कि स्वतंत्र रूप से हाथ-पैर हिलना भी असंभव हो गया। अंग्रेजों की नीति यही थी कि यहीं के सैनिकों और यहीं के साधनों से देश में एक-एक भाग को अपने अधिकार में करते चले जाएँ। फौजों के अफसर जरूर अंग्रेज रहते थे और तिहाई, चौथाई अंग्रेज सिपाही भी सावधानी की निगाह से साथ में रखे जाते थे, पर ज्यादातर परिश्रम और लड़ने का काम भारतीय ही करते थे।

लगभग सौ वर्ष से इसी नीति से काम लेकर इन विदेशियों ने सन् १८५७ तक भारतवर्ष के नक्शे का लगभग पौन भाग लाल रंग में रंग दिया था। पीले रंग वाला भाग (देशी राज्य) कठिनता से चौथाई रह गये थे और उनकी स्वतंत्रता भी दिन पर दिन सीमित की जा रही थी। गदर के पहले दस-पाँच वषो में अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने देशी राज्यों को हड़पने की नीति को बहुत तेज कर दिया था। सतारा, नागपुर, अवध, झाँसी आदि कितने ही राज्य झूठे बहाने से लगातार अंग्रेजी हुकूमत में मिला लिए गये थे। अनेक छोटे जागीरदारों की भूमि पर भी सरकारी अधिकार कर लिया था। इसके

सिवाय जिस प्रकार संभव हुआ प्रजा को लूटकर भारतवर्ष का धन इंग्लैंड पहुँचाया जा रहा था। इस प्रकार राजनीतिक आधिपत्य दृढ़ करने के साथ ही भारतीय धर्म और सभ्यता को भी दबाकर यहाँ ईसाईयत के प्रचार की चेष्टा की जा रही थी, जिससे लोगों में विरोध की भावना ही उत्पन्न न हो।

इन सब कारणों से कई वषो से देश के भीतर असंतोष का भाव बढ़ रहा था। उस समय प्रेसों और समाचार-पत्रों का तो आजकल के समान प्रचार नहीं हुआ था, जिनके द्वारा वह असंतोष प्रकट हो सकता और शासक वर्ग उसकी गहराई का पता लगा सकता। वह भीतर ही भीतर घुमड़ रहा था। अकस्मात् सिपाहियों को दिये जाने वाले कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी होने की अफवाह उड़ी और भारतीय सेनाओं का एक भाग विद्रोह करने करने पर उतारू हो गया। जिन लोगों के राज्यों और जागीरों को अन्यायपूर्वक छीना गया था उन्होंने भी इस आग को और भी भड़काने में सहयोग दिया। कुछ ही सप्ताह के भीतर देश के कई प्रांतों में, करीब एक हजार मील तक फैले भूभाग में विद्रोह की अग्नि धाँय-धाँय करके जलने लगी।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी इसी भारतीय—स्वतंत्रता के लिए आरंभ किये गये रण-यज्ञ की एक विशिष्ट 'होता' थी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस योजना में गढ़ने में भी उनका हाथ था या नहीं ? अंग्रेज इतिहासकारों ने तो उनको भी इस घटना का उत्तरदायी बतलाया है और भारतीय लेखकों के मतानुसार उनको संयोगवश ही इसमें भाग लेना पड़ा। कुछ भी हो, जब एक बार मैदान में आ गई, तो उन्होंने वह जौहर दिखलाये, जिसकी शत्रु-मित्र को किसी को आशा नहीं थी और तो क्या अंग्रेजी सेना के एक बड़े सेनापति सर ह्यूरोज ने, जिन्होंने झाँसी, कालपी और ग्वालियर में विद्रोहियों की बड़ी-बड़ी सेनाओं को हराकर फिर से अंग्रेजों की सत्ता कायम की थी और जिनसे घोर युद्ध करते हुए ही रानी लक्ष्मीबाई ने आत्मोत्सर्ग किया था, इनकी वीरता की मुक्त कंठ से सराहना की थी। उन्होंने

इस संबंध में अपनी घोषणा में जो शब्द कहे थे, वे आज तक इतिहास में अमर बने हुये हैं। उन्होंने लिखा था—

"शत्रु-दल (भारतीय विद्रोहियों) में अगर कोई सच्चा मर्द था तो वह झाँसी की रानी ही थी।"

सर ह्यूरोज के इस कथन को पढ़, सहसा मुख से निकल जाता है—"रहिमन साँचे सूर को बैरिहु करें बखान।" लक्ष्मीबाई झाँसी, कालपी और ग्वालियर तीनों ही स्थानें में सर ह्यूरोज की सेना से खूब लड़ी और उसके नाकों चने चबवा दिये। सच पूछा जाय तो अन्य सब 'विद्रोही—सरदार' अंग्रेजी सेना के सामने एक भी जगह नहीं ठहरे, पर लक्ष्मीबाई ने उसका डटकर मुकाबला किया और बार-बार बलवान् शत्रु का मुँह मोड़ दिया। वह तो एक तरफ उसके अल्प साधन और दूसरी ओर अंग्रेजों के पास नये-नये हथियारों का होना था, जिससे अंत में विजयश्री अंग्रेजी सेना को मिली, पर उस अकेली ने जिस प्रकार सैकड़ों सैनिकों का मुकाबिला करके बीसियों को धाराशायी किया उसका उदाहरण उस युद्ध में दूसरा नहीं मिला। इसी से प्रभावित होकर, योरोप के प्रसिद्ध रणक्षेत्रों के विजयी सेनापति और वीरों की सच्ची कदर करने वाले सर ह्यूरोज ने इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये थे।

जन्म और बाल्यावस्था—

लक्ष्मीबाई के पूर्वज सतारा (महाराष्ट्र) के निवासी थे। जिस समय ईस्ट इंडिया कंपनी से हारकर पूना का पेशवाई शासन समाप्त हुआ, उस समय लक्ष्मीबाई के पिता मोरोपंत ताँबे की पेशवा बाजीराव (द्वितीय) के भाई चिंम्नाजी अप्पा के यहाँ काम करते थे। कंपनी से संधि हो जाने पर बाजीराव आठ लाख वार्षिक की पेंशन पाकर बिठूर में रहने लगे और उनके भाई अप्पा साहब ने काशी वास पसंद किया। उनको भी कंपनी की तरफ से पृथक् पेंशन नियत की गई थी। मोरोपंत भी उनके साथ काशी आये, उनके निर्वाह के लिए अप्पा साहब ने ४० रु० मासिक नियत कर दिया था।

मोरोपंत की पत्नी भागीरथी बाई बड़ी सुंदर और सद्‌गुणी स्त्री थी। इन दोनों पति-पत्नी में परस्पर बड़ा प्रेम भी था। इसी दंपत्ति के यहाँ लक्ष्मीबाई का जन्म १६ नवंबर १८३४ को काशी में ही हुआ। पर ३-४ वर्ष की आयु में ही उसकी माता का देहांत हो गया और पालन-पोषण का भार उसके पिता मोरोपंत पर ही पड़ गया। उधर अप्पा साहब का देहांत भी इसके कई वर्ष पहले हो चुका था और मोरोपंत को जीवन निर्वाह में बड़ी कठिनाई हो रही थी। इस स्थिति में उन्होंने बिठूर में बाजीराव के आश्रय में रहने का निश्चय किया। बाजीराव ने उदारतापूर्वक उनको अपने यहाँ स्थान दिया और वे अपनी पुत्री को लेकर पेशवा के परिवार के साथ ही रहने लगे।

जिस समय बालिका लक्ष्मीबाई बिठूर में पेशवाओं के महल में रहने लगी, उस समय बाजीराव के दत्तक-पुत्र नाना साहब (जन्म १८२४) उनके भाई बाला साहब तथा भतीजे राव साहब भी वहीं रहते थे। बाजीराव ने इन सब बालकों की शिक्षा-दीक्षा की अच्छी व्यवस्था कर रखी थी ! उनको पढ़ने-लिखने के साथ ही अस्त्र-संचालन और घुड़सवारी की शिक्षा भी दी जाती थी। लक्ष्मीबाई (जिसका नाम उस समय मनुबाई था) यद्यपि आयु में छोटी थी, तो भी उन्हीं के साथ रहती थी और सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थी। वहीं से उसे घुड़सवारी और शस्त्र चलाने का शौक लग गया, जो आगे चलकर उसे एक आदर्श वीरांगना बनाने वाला सिद्ध हुआ। पेशवा बाजीराव भी उसकी सुंदर आकृति और भोलेपन को देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे और उसे 'छबीली' कहकर पुकारते थे।

लक्ष्मीबाई बाल्यावस्था से ही तेजस्वी और अपनी बात पर डट जाने वाली थी। जिस समय नाना साहब और राव साहब घोड़ों पर हवाखोरी को निकलते थे, तो वह भी घोड़े पर सवार होकर साथ जाती थी। एक दिन नाना साहब हाथी पर बैठकर जाने लगे, तो वह भी हाथी के लिए हठ करने लगी। बाजीराव ने भी बहुत कहा कि 'छबीली' को भी बैठा लो, पर नाना साहब न माने। उधर लक्ष्मीबाई हठ करती ही जाती थी। इस पर मोरोपंत क्रोध आ गया और उसने

कहा—"क्या तेरी तकदीर में हाथी पर बैठना लिखा है ? क्यों व्यर्थ हठ करती है ! लक्ष्मीबाई ने तड़ाक से उत्तर दिया—"मेरे भाग्य में तो दस हाथियों पर बैठना लिखा है !" समय आने पर यह बात पूरी तरह सत्य हो गई। झाँसी की रानी होने पर वह नाना साहब से भी अधिक वैभवशाली बन गई।

लक्ष्मीबाई का वैवाहिक जीवन—

जिस समय लक्ष्मीबाई की आयु ८ वर्ष की हुई, तो उसके पिता जाति-प्रथा के अनुसार उसके विवाह की चिंता करने लगे। जब कानपुर में किसी से बातचीत पक्की न हुई, तो बाहर की खोज करने लगे। इसी समय झाँसी के राजा गंगाधर राव के लिए भी वधू होने के लायक कन्या की खोज की जा रही थी। इस कार्य के लिए आने वाले सरदारों को लक्ष्मीबाई उपयुक्त जान पड़ी और जिस वर्ष गंगाधरराव झाँसी के राज सिंहासन पर आसीन हुए, उसी वर्ष उनका विवाह-संस्कार लक्ष्मीबाई के साथ संपन्न हो गया।

झाँसी का प्रांत पहले बुंदेलखंड के सुप्रसिद्ध शासक महाराज छत्रसाल के अधिकार में था। उन्होंने उसे पूना के पेशवा बाजीराव (प्रथम) को उनकी सैनिक-सहायता के उपलक्ष्य में भेंट स्वरूप दे दिया था। सन् १७५६ में नागा साधुओं के गुरु इंद्रगिरी ने उस पर अधिकार कर लिया। पर बाजीराव उसको इस तरह छोड़ने वाले नहीं थे। उन्होंने अपना एक सरदार कुछ सेना के साथ झाँसी भेजा जिसने इंद्रगिरी को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। उस समय झाँसी में इन नागा संन्यासियों के ४ मठ थे, जिनमें एक-एक हजार युद्ध कर सकने लायक साधु निवास करते थे। इन सबको प्रति मास चार रुपया राज्य की तरफ से मिलता था और इनका कर्तव्य था कि जब कभी युद्ध आरंभ हो तो वह स्वयं मोर्चे पर पहुँच जायें। ये नागा-संन्यासी अधिकतर धनुष-बाण से लड़ते थे। मराठा सूबेदारों ने भी इन चारों सैनिक-संगठनों को, जिनका नाम 'आहंत', 'आभात', 'आखात' और 'नाखात' था, कायम रखा, ताकि समय पड़ने पर

इसको युद्ध क्षेत्र में भेजा जा सके। सन् १८५७ के विद्रोह में इन नागाओं ने भी लड़ने में प्रमुख भाग लिया था।

कुछ समय बाद बाजीराव ने रघुनाथ हरी नेवालाकर को झाँसी का सूबेदार नियुक्त किया। ये एक वीर और सुयोग्य शासक थे और सन् १७७० से १७६४ तक २४ वषो में उन्होंने झाँसी के राज्य की उन्होंने इतनी उन्नति की और वहाँ पर पेशवा के शासन को इतना सुदृढ़ बना दिया कि उससे प्रसन्न होकर रघुनाथ हरी को ही झाँसी का ही पुश्तैनी सूबेदार बना दिया। जब वे अधिक वृद्ध हो गये तो उन्होंने सूबेदार के पद पर अपने भाई शिवराव भाऊ को नियुक्त कर दिया और स्वयं काशी वास करने को चले गये। इन्हीं शिवराव ने सन् १८०४ में लार्ड लेक के प्रयत्न से अंग्रेजी सरकार ने एक सुलहनामा लिख दिया था, जिसमें कहा गया था कि "शिवराव भाऊ और कंपनी की सरकार आपस में सच्चे मित्र हैं और वे किसी भी आपत्ति के समय एक दूसरे की सहयता करने को तैयार रहेंगे।" साथ ही यह भी था कि "अब तक झाँसी के सूबेदार पेशवा सरकार के मातहत माने जाते हैं, उनका वह संबंध भी कायम रहेगा।" यद्यपि यह सुलहनामा प्रत्यक्ष में निर्दोष जान पड़ता है, पर लार्ड लेक की इस कूटनीति का यह परिणाम हुआ कि झाँसी के उदाहरण देखकर बुंदेलखंड के अन्य समस्त राज्यों ने भी एक के बाद एक अंग्रेज शासकों से समझौता कर लिया। जो राजा इसे अपनी स्वतंत्रता के लिए हानिकारक मानते थे, उनको भी अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा ही करना पड़ा।

कुछ समय बाद जब अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव (द्वितीय) को दबा लिया तो उससे संधि करते समय यह शर्त भी लिखा ली कि "हमारी मातहती में झाँसी जैसे दूरवर्ती इलाके हैं, उन सब पर हम अपना अधिकार छोड़ते हैं।" यद्यपि पेशवा का शासन निर्बल पड़ जाने से ये सब 'सूबेदार' स्वयं ही पूर्ण स्वतंत्र राजा बन गये थे और पेशवा को किसी प्रकार का वार्षिक कर देना उन्होंने बंद कर दिया था, तो भी नाममात्र के लिए वे 'पेशवाई' के आधीन अवश्य थे। पर

चालाक अंग्रेजों ने इस शर्त द्वारा उनको पेशवा के बंधन से मुक्त करके अपने साथ किसी भी प्रकार की 'संधि' कर सकने की स्थिति में ला दिया। अंग्रेजी सरकार के साथ संधि न कर सकने का एक बहाना था, उसे भी दूर कर दिया गया।

शिवराव भाऊ का देहांत १८९५ में हो गया। उसके बाद उनका पौत्र रामचंद्र राव सूबेदार हुआ और १८३५ तक शासन करता रहा। उसका देहांत होने पर उसके कई वर्ष तक शासन में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते रहे और ४ वर्ष तक अंग्रेज सरकार ने अपना प्रतिनिधि झाँसी में रखकर वहाँ का शासन कार्य चलाया। इसके पश्चात् बहुत सोच-विचार कर लक्ष्मीबाई के पति गंगाधर राव को, जो शिवराऊ भाऊ के सबसे छोटे पुत्र थे, शासन भार दे दिया गया। पर अब वे पूर्णतया अंग्रेजी सरकार के मातहत हो गए और उन्हें अपने यहाँ एक अंग्रेजी टुकड़ी रखना और उसके खर्च के लिए सवा दो लाख रु० वार्षिक देना स्वीकार करना पड़ा।

झाँसी के राजाओं का यह इतिहास हमको बतलाता है कि किस प्रकार अपनी ही असावधानी और संगठन के अभाव से इस देश में अंग्रेजों के कदम धीरे-धीरे मजबूत होते गये और वे एक-एक करके राजाओं के राज्यों को अपने शासन में लाते चले गये। एक दिन वह भी था कि जब वे यहाँ व्यापारी के रूप में आये थे और सन् १७५३ तक 'एक दीन सेवक' की हैसियत से देहली के बादशाहों से छोटी-मोटी रियासतों के लिए पैरों पर सिर रखकर प्रार्थना किया करते थे। पर उनके सौ वर्ष बाद वे ही व्यापारी यहाँ के बड़े-बड़े राजाओं के साथ मनमाना बर्ताव करने लगे और झूठे बहाने निकालकर उनके राज्यों को आत्मसात् करने लग गये। अंग्रेजों की इन चालों को देखकर भी भारतवासी सावधान नहीं हुये और जिसको अंग्रेजों से अपना कोई लाभ सिद्ध होता दिखाई पड़ा, वही उनका सहयोगी बनकर देशवासियों की जड़ काटने लगा। भारतवासियों में राष्ट्रीय भावना का यह अभाव ही इसके पतन का मुख्य कारण रहा है। अब यद्यपि देश स्वतंत्र हो चुका है, तो भी यह त्रुटि पूरी तरह दूर

नहीं हुई है। आज भी यहाँ के अधिकांश व्यक्ति राष्ट्रीय-हित के सम्मुख व्यक्तिगत हित के ही प्रधानता देने वाले मिलते हैं, जिससे भारतीय समाज की उन्नति बहुत कुछ रुकी हुई है।

विवाह और वैधव्य—

लक्ष्मीबाई का विवाह गंगाधर राव से ही हो जाने पर उसके पिता तथा अन्य संबंधी झाँसी ही आकर रहने लगे। मोरोपंत को दरबार में एक सरदार की पदवी दी गई और तीन सौ रु० मासिक वेतन मिलने लगा और लोग भी अच्छे पदों पर नियुक्त किए गए। गंगाधर राव एक अच्छी योग्यता वाले और प्रजा हितैषी शासक थे। उन्होंनें सर्व साधारण की भलाई के लिए अनेक कार्य किए। सबके साथ दयालुता का व्यवहार करने के कारण लोग उनको "काका साहब" कहकर पुकारते थे। उनके पश्चात् झाँसी के राज्य का क्या होगा, इसका उन्हें बड़ा ख्याल रहता था, क्योंकि वे देख रहे थे कि निस्संतान राजाओं के राज्यों पर अंग्रजी सरकार किस प्रकार एक-एक करके अधिकार जमाती चली जाती है।

जब विवाह को ८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कोई संतान नहीं हुई, तो उनका ध्यान धार्मिक कायो की तरफ गया और सन् १८५० में वे तीर्थ यात्रा के लिए निकले। सबसे पहले काशी पहुँचे, फिर गया, प्रयाग आदि की भी यात्रा की। जहाँ कहीं गए, वहाँ खूब दान-पुण्य किया। वहाँ से वापस आने पर लक्ष्मीबाई गर्भवती हुई और १८५१ में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। इससे सबको अत्यंत प्रसन्नता हुई और एक महीने तक नगर में बड़ी खुशी मनाई गई। पर यह प्रसन्नता अल्पकालीन ही सिद्ध हुई, क्योंकि तीन मास की आयु में ही बालक का देहावसान हो गया। गंगाधर राव को तो इससे इतना अधिक मानसिक कष्ट हुआ कि वे बीमार पड़ गये और उन्होंने खटिया पकड़ ली। बहुत कुछ इलाज किए जाने पर सन् १८५२ में स्वास्थ्य में कुछ सुधार जान पड़ा। पर अब भी बीमारी पूरी तरह ठीक नहीं हुई थी, जिससे उनको पथ्य-भोजन ही ग्रहण करना पड़ता था। अक्टूबर १८५३ में एक श्राद्ध के अवसर पर उन्होंने कुछ खा लिया,

जिससे रोग फिर एक दम बढ़ गया। परिणाम यह हुआ कि वे दशहरे के दरबार में भी आकर न बैठ सके। उस अवसर पर समस्त सरदारों और प्रतिष्ठित नागरिकों ने रानी लक्ष्मीबाई को विश्वास दिलाया कि उन सबको सहानुभूति पूरी तरह से महाराज के साथ है, क्योंकि वे सदैव सुख-दुःख का पूरा ध्यान रखते हैं और उन्होंने कभी किसी के साथ अन्यायपूर्ण या बुरा बर्ताव नहीं किया। सबने मिलकर महाराज की दीर्घायु के लिए भगवान् से प्रार्थना की।

पर प्रजा की शुभाकांक्षायें और बड़े-बड़े वैद्य, हकीम तथा डॉक्टरों का इलाज, कुछ भी काम न आया। स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता ही गया और नवंबर के दूसरे सप्ताह में यह जान पड़ने लगा कि अब महाराज का अधिक समय तक जीवित रह सकना संभव नहीं। यह देखकर लक्ष्मीबाई के पिता और राज्य-मंत्री नृसिंहराव महाराज के पास गये और भविष्य में राज्य की व्यवस्था के संबंध में विचार किया गया। सोच-विचारकर यह तय हुआ कि अपने घराने के वासुदेव नेवालकर के पुत्र आनंदराव को जिसकी आयु पाँच वर्ष की थी, दत्तक युवराज बना दिया।

महाराज ने अपनी हालत खराब होती देखकर इस कार्य को तुरंत संपन्न किया और बुंदेलखंड के असिस्टेंट पॉलीटिकल एजेंट मेजर एलिस को अपने हाथ से एक खरीता (राजकीय पत्र) दिया, जिसमें कंपनी—सरकार को यह सूचना दी गई कि उन्होंने आनंदराव को दत्तक पुत्र के रूप में ले लिया है और उसका नाम दामोदर राव रखा है। पत्र में यह भी प्रार्थना की गई थी कि उनका देहावसान होने पर दामोदर राव को ही उसका उाराधिकारी माना जाए।

जिस समय महाराज ने अपना वसीयत नामा असिस्टेंट पॉलीटिकल एजेंट को दिया, तो साहब का दिल भर आया और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे अवश्य इसे स्वीकृत करा देंगे। पर जब वसीयत नामा और मेजर एलिस का पत्र पॉलीटिकल एजेंट मेजर मैलकम के पास पहुँचा, तो उन्होंने गवर्नर जनरल को अपनी तरफ से यह पत्र भेजा—

"खेद के साथ सूचना दी जाती है कि झाँसी के महाराज २१ नवंबर १८५३ को परलोकवासी हो गये। मृत्यु से पूर्व महाराज ने पाँच वर्षीय एक बालक दामोदर राव को अपना दत्तक पुत्र बनाया और यह भी कहा कि यह लड़का हमारा नवासा है। परंतु मुझे ऐसा विदित होता है कि यह लड़का महाराज रघुनाथ राव की दूसरी पुस्त से है और अंग्रेजी कानून के अनुसार महाराज का चचेरा भाई है। जो वसीयत नामा महाराज ने मुझे भेजा है, वह मैं साथ में भेज रहा हूँ। मुझे ऐसा विदित होता है कि महाराज ने अपने स्वर्गवास के समय दत्तक लेने का विचार किया, पर इस कार्य पर झाँसी के अमीर लोग अवश्य खेद प्रकट करेंगे। उनको आशा थी कि महाराज गंगाधर राव के पश्चात् अंग्रेजों की देख-रेख में राज्य का प्रबंध होगा। पर जब महाराज ने सोचा कि झाँसी के सूबेदार शिवराम भाऊ के वंश में जिसके साथ-साथ सरकार का पहला संधि पत्र लिखा गया था, कोई नहीं है, तो उन्होंने यह दत्तक पुत्र लिया। सरकार की जानकारी के लिए मैं महाराज की वंशावली भेज रहा हूँ, जिससे विदित होता होगा कि यह लड़का महाराजा रघुनाथ के वंश का है।"

"मैंने १ नवंबर को एक पत्र मेजर एलिस को भी भेजा था और उसी के अनुसार कार्यवाही कर रहे हैं। जब तक झाँसी के विषय में सरकार की पूरी स्वीकृति न आ जायगी, तब तक स्वर्गीय महाराज के दत्तक का कुछ भी विचार न किया जायगा। झाँसी के राजा का अंग्रेजी सरकार से क्या संबंध है ? यह बतलाने को कुछ प्रमाण लिखे जाते हैं। इन पर विचार करने से मालूम होगा कि झाँसी के राजा को अपने राज्य का वारिस बनाने का अख्तियार है या नहीं ?"

इस पत्र से स्पष्ट है कि मैलकम साहब ने महाराज गंगाधर राव के मरते ही झाँसी के राज्य को अंग्रेजी अधिकार में करने का विचार कर लिया था। अपने बात को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने यह दलील पेश की कि पेशवा बाजीराव ने सन् १८१६ के सुलहनामे के द्वारा झाँसी राज्य का पूरा अधिकार हमको दे दिया था और हमने ही शिवराम भाऊ के पौत्र को गद्दी पर बिठाकर उसे 'सूबेदार' के

बजाय 'महाराज' का खिताब दिया था। उसके निस्संतान मर जाने पर राज्य के असली हकदार की तलाश की गई। उस समय शिवराम भाऊ के दो पुत्र (रघुनाथ राव और गंगाधर राव) जीवित थे, उन्हीं को एक के बाद एक राज्य का अधिकार दिया गया। पर अब गंगाधर राव की मृत्यु हो जाने से उस वंश की इतिश्री हो गई और इससे आगे किसी को उनका उत्तराधिकारी नहीं माना जा सकता।

महाराज गंगाधर राव ने अंतिम समय में जिस बालक दामोदर राव को दत्तक देकर रानी लक्ष्मीबाई को उसका अभिभावक नियत किया था, उसके संबंध में मेजर मैलकम ने लिखा—"महाराज गंगाधर राव ने जिस स्त्री (लक्ष्मीबाई) को राज्य की व्यवस्था सौंपने की इच्छा प्रकट की है, वह हर तरह से योग्य है। परंतु इस समय की अवस्था को देखते हुए विश्वास है कि सरकार इस इलाके को अपने काबू में करेगी और रानी साहिबा तथा उनके संबंधियों को कोई अच्छा 'वजीफा' देकर आराम पहुँचायेगी। रानी साहिबा के लिए कितने रुपये की जरूरत होगी, यह बतलाना बहुत कठिन है। चूँकि बुंदेलखंड में मरहठों का आखिरी खानदान है, इसलिए सब बातों को विचार करते हुए मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि महारानी को ४००० रुपये वार्षिक से कम न दिया जाय।"

अंग्रेज सरकार की नीति उस समय यही थी कि कम से कम जितनी रियायत देने से इस देश के पुराने शासक और प्रजागण शांत रह सकें उतना उनको देकर शेष समस्त अधिकारों को उससे छीन लिया जाय। खासकर जिस समय महाराज गंगाधर राव की मृत्यु हुई और उनके दत्तक पुत्र दामोदरराव को रानी लक्ष्मीबाई की संरक्षकता में झाँसी राज्य का अधिकारी बनाने का प्रश्न उठा, उस समय देश में लार्ड डलहौजी का शासन च चल रहा था। वे देशी राज्यों के विरुद्ध थे, एक-एक करके कितने ही राज्यों का अंग्रेजी शासन के अंतर्गत ला चुके थे। इस समय ईस्ट 'इंडिया' कंपनी का शासन इस देश में इतना जम चुका था और उसकी सैन्य शक्ति इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि उसे देशी राजाओं की सहायता की कोई आवश्यकता

नहीं रह गई थी, उसकी निगाह में अब केवल 'जमींदारों' की तरह रह गये, जो केवल छत्र, मुकुट और आभूषणों से सजधज कर सिंहासन पर बैठ जाते हैं और खजाने के रुपया को भोग-विलास के कार्यों में बरबाद किया करते हैं। इसलिए अंग्रेजी अधिकारियों ने यह निश्चय कर लिया था कि किसी भी राजा के निस्संतान मर जाने पर उसको दत्तक लेने का अधिकार न दिया जाय और उसका राज्य कंपनी शासन में मिला लिया जाय।

इस नीति के अनुसार गंगाधर राव के मरते ही मेजर एलिस ने तुरंत ही झाँसी के खजाने में ताला लगा दिया और गवर्नर जनरल की आज्ञा की प्रतीक्षा में राज्य का पूरा प्रबंध अपने हाथ में ले लिया। इस तरह चार महीने बीत गये, तो भी भारत-सरकार का कोई हुक्म नहीं आया। यह देखकर रानी लक्ष्मीबाई ने सरकार के पास एक और खरीता भेजा, जिसमें झाँसी के राजवंश और अंग्रेजी सरकार के बीच प्राचीन मित्रता का उल्लेख करते हुए दामोदर राव को राज्य का अधिकारी स्वीकृत किये जाने की प्रार्थना की गई थी। लार्ड डलहौजी ने स्वीकार न किया और २७ फरवरी १८५४ को एक घोषणा द्वारा झाँसी के राज्य को ब्रिटिश शासन में मिला लेने की आज्ञा दे दी। उन्होंने निर्णय किया कि झाँसी का राज्य स्वतंत्र नहीं है, वरन् पारितोषिक के रूप में जागीर की तरह दिया गया था। अतः उसका कोई अधिकारी न होने की सूरत में वापस ले लेने का पूर्ण अधिकार है। उन्होंने यह भी दलील दी कि झाँसी-राज्य अन्य अंग्रेजी जिलों के बीच में पड़ता है और उसे अंग्रेजी शासन में ले लेने से राज्य-व्यवस्था में सुविधा रहेगी।

जब अंग्रेज रेजीडेंट ने गवर्नर जनरल की इस घोषणा को रानी लक्ष्मीबाई को पढ़कर सुनाया, तो रानी ने दृढ़ किंतु मधुर स्वर से कहा—"मेरा झाँसी देगा नहीं !" उस समय रानी की इस दृढ़तापूर्ण वाणी का कोई परिणाम नहीं निकला। उनको ५ हजार की सालाना पेंशन, नगर के राजमहल में रहने का अधिकार मिला। पारिवारिक तथा आभूषणों आदि पर उनका स्वामित्व स्वीकार किया

गया। झाँसी के खजाने से ६ लाख रुपये निकालकर दामोदर राव के नाम से अंग्रेजी खजाने में जमा कर दिये गये, जो उसे वयस्क होने पर मिल सकते थे।

लक्ष्मीबाई ने इस आज्ञा का बहुत विरोध किया और कई महीने तक पेंशन लेने से इनकार कर दिया। उन्होंने उमेश चंद्र बनर्जी नामक हिंदुस्तानी वकील तथा एक योरोपियन वकील को ६० हजार रुपये खर्च करके कंपनी के 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स" के पास अपील करने को लंदन भेजा। पर उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। तब विवश होकर उन्होंने पेंशन लेना आरंभ किया तथा उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ में व्यतीत होता था। जो समय बचता था, उसमें वे घुड़सवारी और व्यायाम करती थीं। दामोदर राव को वे अपने पुत्र के समान ही प्यार करती थीं। ७ वर्ष की आयु में दामोदर राव का यज्ञोपवीत संस्कार बड़ी धूम-धाम से किया गया। इसके लिए उसके नाम से जमा ६ लाख रुपये में से १ लाख रुपया निकाला गया। पहले तो सरकार ने कहा कि वे रुपये दामोदर राव के वयस्क होने पर ही दिये जा सकते हैं। पर जब अधिक जोर दिया गया तो इस शर्त पर रुपया देने की आज्ञा दी गई कि उनको कुछ समय बाद फिर जमा कर दिया जाय। लक्ष्मीबाई ने भविष्य की बात को अनिश्चित समझकर इस शर्त को मानकर रुपया ले लिया। यह सन् १८५६ की बात है।

देश में विद्रोह की अग्नि—

सन् १८५७ के जनवरी मास से ही भारतीय फौजों में अंग्रेजी अधिकारियों की कार्यवाहियों के विरुद्ध असंतोष प्रकट हो रहा था। इसका तात्कालिक कारण तो बंदूकों के लिए नये ढंग के चर्बी से चुपड़े कारतूस देना था, पर वास्तविक कारण तरह-तरह की चालों से देश में अंग्रेजी सत्ता का अधिकाधिक विस्तार किया जाना था। इससे यहाँ के कितने ही प्रधान व्यक्ति अंग्रेजों के विरोधी बन गये थे, जिनमें बिठूर निवासी नाना साहब प्रमुख थे। जब उनकी ८ लाख वार्षिक की पेंशन अन्यायपूर्वक रोक दी गई और झाँसी तथा अवध

जैसे राज्यों को भी उन्होंने अंग्रेजों द्वारा जब्त किये जाते देखा, तो उनके दय में भारत के देशी राजाओं के संगठित करके अंग्रेजों को मार भगाने की भावना उत्पन्न होने लगी। पहले तो उन्होंनें इस संबंध में कई बार सब राजाओं के पत्र लिखे और फिर तीर्थ यात्रा का बहाना करके सब जगह स्वयं राजाओं से मिले और उनसे इस संबंध में साँट-गाँठ की। अवध की राजधानी लखनऊ में तो हाथी पर उनका बहुत बड़ा जलूस निकाला गया।

सब लोगों से गुप्त रूप से विचार-विमर्श करके जून १८५७ में विद्रोह आरंभ करने की तिथि तय की गई। पर भारतीयों फौजों में असंतोष अधिक बढ़ जाने से मेरठ के सिपाहियों ने १० मई को ही ांति का श्री गणेश कर दिया और वहाँ के समाचारों से कानपुर, झाँसी आदि सब स्थानों की देशी सेनाओं में उत्तेजना फैल गई। यद्यपि अंग्रेज अधिकारी यह नही जानते थे कि ांति की योजना भीतर ही भीतर कितनी अधिक फैल चुकी है ? फिर भी वे सावधान हो गये और अपने स्त्री-बच्चों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचा दिया।

कानपुर और झाँसी में विद्रोह का आरंभ एक ही दिन ४ जून १८५७ को हुआ। कानपुर में पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ठीक आधी रात को तीन फायरों के संकेत देकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की गई। उधर झाँसी में भी ४ जून को ही सेना के प्रधान अफसर कप्तान डनलप और टेलर को डाकखाने से लौटते समय रास्ते में ही मार दिया गया। इन विद्रोहियों के नेता रिसालदार कालेखाँ और तहसीलदार अहमद हुसैन थे। उन्होंने ८ ता० को झाँसी के किले पर भी अधिकार कर लिया और उसके भीतर अपनी रक्षा के लिए एकत्रित ७४ अंग्रेज पुरुष, १६ स्त्रियाँ और २३ बालकों को मौत के घाट उतार दिया। उसके बाद उन्होंने रानी के महल को घेर लिया और खर्च के लिए धन माँगा। रानी ने कहा कि मेरे पास नकद रुपया तो नहीं है, कुछ आभूषण दे सकती हूँ। अंत में एक लाख के कीमत के गहने देकर रानी ने उनको संतुष्ट किया। इसके पश्चात् समस्त विद्रोही सेना "खल्क खुदा, मुल्क बादशाह का, अमल

महारानी लक्ष्मीबाई का" नारा लगाते हुए दिल्ली की तरफ रवाना हो गये।

झाँसी पर शासन—

इस बात को निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि झाँसी में देशी सेना द्वारा विद्रोही होकर जो ११४ अंग्रेज स्त्री-पुरुषों को कतल किया गया उसमें रानी लक्ष्मीबाई का कितना हाथ था ? यह तो सच है कि गदर प्रमुख नेता नाना साहब से उनका पुराना संबंध था और झाँसी के राज्य का अन्यायपूर्वक जब्त किया जाना भी ऐसी घटना थी जिसके कारण वे नाना साहब की योजना में सम्मिलित मानी जा सकती हैं। पर स्त्री होने और सेना के अधिकारियों से किसी प्रकार संपर्क न होने के कारण ४ से ८ जून तक की घटनाओं में उनका कोई हाथ नहीं बतलाया जा सकता। इस अनुमान का समर्थन मार्टिन नाम के अंग्रेज के उस पत्र से होता है, जो सन् १८८६ में उसने लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र दामोदर राव को भेजा था। वह अंग्रेज उस समय झाँसी में ही था और किसी प्रकार विद्रोहियों से बचकर निकल भागा था। उसके पत्र का एक अंश इस प्रकार है—

"तुम्हारी माता (लक्ष्मीबाई) के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया गया। उनके बारे में जितना ठीक हाल मैं जानता हूँ उतना दूसरा कोई नहीं जानता। सन् १८५७ में जो अंग्रेज झाँसी में मारे गये, उस घटना से उसका कोई संबंध न था। इतना ही नहीं, बल्कि किले में अंग्रेजों के बंद हो जाने पर दो दिन तक वह उनको खाना भेजती रही। उसने कप्तान-मारडन और कप्तान सैन को सलाह दी कि आप लोग सब स्त्री-बच्चों को लेकर ओर्छा के राजा के पास चले जाएँ तो झाँसी की अपेक्षा सुरक्षित रहेंगे। पर उस समय उन लोगों ने इस सलाह को न माना और अंत में उन्हीं सेना और जेल के लोगों ने उन सबको मार दिया।"

एक अन्य लेखक ने भी लिखा है कि "अंग्रेजों के किले में चले जाने के बाद महारानी छिपे तौर पर उनकी सहायता करती रही। उन्होंने हर रोज तीन-तीन मन आटे की रोटियाँ पकवाकर उनको

भिजवाई और भी जिस तरह संभव था उनकी रक्षा का प्रयत्न किया।"

पर जब विद्रोहियों ने सब अंग्रेज शासकों को मार दिया और स्वयं भी शहर छोड़कर दिल्ली की तरफ चल दिये, तो शहर को बिल्कुल अरक्षित देखकर उसका प्रबंध उनको अपने हाथ में लेना पड़ा। ऐसे समय में अनेक स्वार्थपरायण और दूसरों की संपत्ति को लालच की निगाह से ताकते रहने वाले व्यक्ति उपद्रव खड़ा कर देते हैं। इन उपद्रवकारियों से अपनी रक्षा करने के लिए लक्ष्मीबाई को सेना की व्यवस्था करनी पड़ी और तोप, गोला, बारूद तथा अन्य हथियारों को तैयार करने के लिए कारखाना स्थापित करना पड़ा। महाराज गंगाधर राव के समय तक झाँसी के किले में इन सब अस्त्र-शस्त्रों का पूरा इंतजाम था, पर उनकी मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने उन सबको नष्ट कर दिया था, जिससे रानी अथवा उसके पक्षपाती कभी अकस्मात् अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लड़ने की तैयारी न करने लग जायें।

रानी लक्ष्मीबाई को जून १८५७ से मार्च १८५८ तक कुल नौ-दस महीने झाँसी पर शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस बीच में वे बराबर बड़े अंग्रेज अधिकारियों को इस बात का विश्वास दिलाती रहीं कि मैं यह कार्य अपना अधिकार जमाने की मंशा से नहीं कर रही हूँ, वरन् जब तक सरकारी अधिकारियों की अनुपस्थिति के कारण राज्य में उपद्रव और लूटमार का भय है तब तक के लिए मैंने शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले ली है। पर अंग्रेजों ने उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया और वे यही मानते रहे कि वह भीतर ही भीतर विद्रोहियों से मिली हुई हैं। परिणाम यह हुआ कि अंत में रानी को वास्तव में विद्रोह में भाग लेना ही पड़ा और झाँसी का युद्ध "सन् १८५७ के गदर" का सबसे मुख्य संग्राम माना गया। यद्यपि दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह, कानपुर के नाना साहब, लखनऊ की बेगम हजरत महल आदि उस समय विद्रोहियों के प्रधान नेता माने गये, पर आज उनका नाम केवल इतिहास के कुछ

पाठकों को ही याद रह गया है, जबकि 'झाँसी की रानी' नगरों में ही नहीं, गाँव-गाँव में प्रसिद्ध है। आज भी छोटे-छोटे बालक हर जगह यह गाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

खूब लड़ी मरदानी वह तो—
झाँसी वाली रानी थी।

इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि संसार में पूजा और प्रतिष्ठा आत्म-त्याग और बलिदान की ही होती है। भारतीय स्वाधीनता की 'सत्तावनी ांति में यद्यपि तात्या टोपे, कुँवरसिंह, नाना साहब आदि अनेक वीरों ने अंग्रेजों से डटकर मुकाबला किया और अपने को स्वतंत्रता की वेदी पर बलिदान कर दिया, पर जिस तरह रानी लक्ष्मीबाई ने निशंक होकर शत्रु के सम्मुख युद्ध किया और बिना पीछे कदम हटाये तलवारों और बंदूकों के सामने निर्भय होकर बढ़ती चली गई, उसका उदाहरण उस समय के समस्त इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। स्त्री होकर उसने वह काम कर दिखाया जो उस "स्वतंत्रता-संग्राम" में कोई पुरुष न कर सका। उसके इसी अनुपम शौर्य को देखकर सामान्य जनता भी मुग्ध हो गई और "भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम' के नेतृत्व का मुकुट उसी के सिर पर रखा गया। शत्रु-पक्ष के विजयी सेना नायक सर ह्यूरोज ने भी विद्रोह के समस्त कर्ता-धर्ताओं में "सच्चा मर्द" उसी को माना।

भारतीय स्त्री जाति की दृष्टि से तो वर्तमान समय में इतना महान् आदर्श दूसरा मिल ही नहीं सकता। यह सच है कि हर एक स्त्री को न तो उसके समान वीरांगाना बनने के साधन मिल सकते हैं और न इस प्रकार युद्ध करने का अवसर मिलने की ही आशा की जा सकती है। पर रानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण में जो कुछ अनुकरणीय है, वह कर्तव्य मार्ग से किसी भी स्थिति में पैर पीछे न हटाना है। कर्तव्यनिष्ठा प्रत्येक स्त्री और पुरुष के लिए एक ऐसा गुण है, जिसके होने पर वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्मरणीय कार्य करके अपना नाम चिरस्थायी कर सकता है।

घर के शत्रुओं से युद्ध—

यद्यपि विधवा होने के बाद लक्ष्मीबाई ने अपना रहन-सहन बहुत सादा बना लिया था और वह अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत करती थी, पर जब उसे शासन-संचालन की जिम्मेदारी उठानी पड़ी तो उसने उस कार्य को भी ऐसी संलग्नता और परिश्रम के साथ किया कि कुछ ही समय में झाँसी की रंगत बदल गई। उसका वर्णन करते हुए 'कानपुर के विद्रोही' पुस्तक में कहा गया है—

"रानी लक्ष्मीबाई ने सैनिक महत्त्व के स्थानों की रक्षा पर पूरा ध्यान दिया था। नई तोपें ढाली गई, नये सिपाही भर्ती किये गये, एक टकसाल खोली गई। शासन के प्रत्येक विभाग में रानी के दृढ़ चरित्र का प्रभाव पड़ा। २३ वर्षीय इस नारी ने अपने उत्साह, उद्योग एवं अध्यवसाय से अपने सभी साथियों और झाँसी के निवासियों के हृदय में मोहन-मंत्र फूँक दिया। वह शासन-कार्य की देख-भाल स्वयं करती थीं। सिर पर एक चमकदार लाल रेशम की टोपी लगाती थीं, जिसमें चारों ओर मोती और जवाहरात जड़े थे। एक बहुमूल्य मोतियों की माला उनके गले में रहती थी। उनकी कंचुकी सामने खुली रहती थी और कमर तक लटकती रहती थी। एक जरी के काम वाला कमरबंद उसे बाँधे रहता था। इस कमरबंद में दमिश्क की नक्काशी के चाँदी में मढ़े दो तमंचे खोंसे हुए थे। एक बहुत तेज धार का छुरा भी इसी में लटका रहता था। साड़ी के स्थान पर वे ढीला पायजामा पहिनती थीं। इस तेजस्वी वेष का प्रभाव सब पर पड़ता था। प्रतिदिन महालक्ष्मी की मंदिर में वे घोड़े अथवा पालकी पर सवार होकर दर्शन करने जाती थीं। घोड़े की सवारी का उनको बड़ा शौक था और अश्व-परीक्षा में वे अत्यंत निपुण थीं।"

"कचहरी में काम करते समय उनको कोई नहीं देख पाता था, क्योंकि उनका स्थान सबसे अलग था। उसके दरवाजे पर दो सिपाही सुनहरी छड़ियाँ लेकर खड़े रहते थे। महारानी के पास दीवान लक्ष्मी राव कागज, कलम लेकर बैठे रहते और वे जो कुछ

बोलती थी उसे लिखते जाते थे। महारानी बहुत चतुर थीं और उनके सामने जो मामला आता, उसकी खूब जाँच करके उचित फैसला करतीं थीं। इनके न्याय से समस्त प्रजा खुश थी, यह बात अंग्रेज लेखकों ने स्वयं लिखी है। महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण स्त्री होने के कारण वे पर्दा नहीं करती थीं और अपने पति की गद्दी पर बैठकर ही राज्य-संचालन करती थीं।

रानी को राज्य-भार सँभाले कुछ ही समय हुआ था कि सदाशिव राव नारायण नामक व्यक्ति, जो गंगाधर राव का कोई दूर का संबंधी था, उठ खड़ा हुआ और अपने को झाँसी की गद्दी का हकदार बतलाने लगा। वह कुछ सेना लेकर झाँसी को जीतने के लिए चला और शहर से तीन मील के फासले पर करेरा गाँव पर चढ़ाई की। उसने वहाँ से सरकारी थानेदार व तहसीलदार को मार कर भगा दिया और आस-पास के मनुष्यों को तंग करके कर वसूल करने लगा। उसने राजपुर के थानेदार के पास भी यह खबर भेजी कि "सारे गाँव में ऐलान कर दो कि अब सदाशिव राव ही राजा है। जब थानेदार ने उसकी बात न मानी तो उसने उसकी सारी" जायदाद छीनकर नौकरी से अलग कर दिया।

जब इन घटनाओं की खबर रानी लक्ष्मीबाई को मिली तो उसने थोड़ी-सी सेना लेकर करेरा पर चढ़ाई कर दी। सदाशिवराव भागकर ग्वालियर के राज्य में चला गया और वहाँ से फिर तैयारी करके झाँसी की तरफ आया। इस बार गिरफ्तार करके उसे कैदखाने में बंद कर दिया गया।

इसके बाद ओरछा के दीवान नत्थेखाँ ने २० हजार फौज लेकर झाँसी पर आमण किया। उसकी ताकत को अधिक देखकर कितने ही सरदार डर गये और झाँसी का शहर और किला नत्थेखाँ के सुपुर्द करने की सलाह देने लगे। यह सुनकर रानी को बड़ा ोध आया और उसने कहा—

"बड़ी लज्जा की बात है कि आप मर्द होकर ऐसी बात मुख से निकालते हैं। मैं स्त्री होने पर भी अपने हक से पीछे नहीं हटूँगी।

दुनिया में एक दिन तो सबको मरना है। यदि हम अपने न्यायपूर्ण अधिकार के लिए युद्ध में वीरता दिखाकर मर जाएँ तो हमको परलोक में भी सम्माननीय स्थान प्राप्त होगा। मैं तो युद्ध से हर्गिज पीछे नहीं हट सकती।"

जब नत्थेखाँ की फौज झाँसी के किले के पास पहुँची तो उस पर तोपों से ऐसी गोलाबारी की गई कि वह सामने ठहर न सकी। तब उसने अपनी सेना को चार भागों में बाँटकर नगर के चार दरवाजों पर हमला किया। यहाँ भी झाँसी की सेना ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया। रानी स्वयं फाटकों पर घूमती हुई सिपाहियों का साहस बढ़ाती रहती थीं। कई दिन बाद नत्थेखां का साहस टूट गया और वह हार मानकर अपने स्थान को वापस चला गया।

इस प्रकार थोड़े ही दिन में रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी योग्यता, वीरता और कर्मशीलता की छाप सब दरबारियों और आस-पास के बुंदेला शासकों पर लगा दी। उस कठिन समय में जबकि देश में भयंकर राजनीतिक भूचाल आया हुआ था और बड़े-बड़े राज-भवन डगमगा रहे थे, झाँसी की रानी दृढ़तापूर्वक अपने राज्य में शांति और सुव्यवस्था कायम रखकर प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न कर रही थीं। उसकी आयु बहुत कम थी, राज्य-संचालन का उसे कोई अनुभव न था, चारों तरफ नई-नई बाधायें उत्पन्न हो रहीं थीं, फिर भी उसके सुशासन की प्रशंसा झाँसी निवासी आज तक करते हैं। कारण यही था कि जहाँ अधिकांश शासक अपना ध्यान शान-शौकत और सुखोपभोग की तरफ लगाते हैं, लक्ष्मीबाई ने परोपकार और कर्तव्यपालन को अपना धर्म समझ रखा था। अपने पति का स्वर्गवास और राज्य पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने पर जहाँ उनका पूरा समय पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्यों में व्यतीत होता था, यहाँ अब परिस्थिति के बदल जाने से वे एक श्रेष्ठ शासनकर्ता और चतुर राजनीतिज्ञ का पार्ट अदा कर रही थीं। पूजा-पाठ वे अब भी करती थीं और देव-मंदिर में दर्शनों के लिए भी नियमपूर्वक जाती थी,

पर इस समय उनका मुख्य ध्येय राज्य की सुरक्षा और प्रजा को अपनी न्यायपरायणता द्वारा संतुष्ट रखना और सुखी बनाना था।

वास्तव में स्त्री हो या पुरुष, मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार उज्ज्वल चरित्र और सच्ची कर्तव्यनिष्ठा है। उस जमाने में मुसलमानी और अंग्रेजी शासन में पराधीन रहने से अधिकांश राजाओं का नैतिक स्तर गिर गया था और वे प्रजा की उन्नति और सुख-समृद्धि की अपेक्षा अपने वैभव और विलास की तरफ ही अधिक ध्यान देते थे। उस समय लखनऊ के वाजिदअली शाह जैसे शासक भी थे, जिनका समस्त समय जनानखाने में ही व्यतीत होता था और सिवाय नाचने, गाने तथा तरह-तरह की रंगरेलियों के और कोई काम न था। ऐसे युग में यदि लक्ष्मीबाई ने एक प्रसिद्ध राज्य की अधिकारिणी बन जाने पर पूर्ण संयम और त्याग का जीवन व्यतीत किया और अपनी संपूर्ण शक्ति को प्रजापालन में लगा दिया, तो यह निश्चय ही बड़े गौरव की बात थी। यही कारण है कि जहाँ उस समय के बहुत बड़े नरेशों का कोई जिक्र भी नहीं करता, झाँसी की रानी की गुण-गाथा और वीरता की कथा इतिहासों और लोकगीतों का महत्त्वपूर्ण विषय बनी हुई है।

भारतीय स्त्रियाँ, जो अपने को 'अबला' और 'असहाय' कहकर प्रायः कर्मठता और कठिनाइयों के जीवन से विलग रहती हैं, रानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण से बहुमूल्य प्रेरणा ले सकती हैं। उस युग में एक उच्च पदस्थ नारी का आदर्श भी यही था कि संघर्ष के अवसर पर अपनी मनोवृत्तियों को संयत रखकर पति को कर्तव्यपालन के लिए प्रोत्साहित करे और किसी प्रकार की स्वार्थजनित निर्बलता प्रकट न करे। यद्यपि उस समय सती-प्रथा कानूनन् बंद कर दी गई थी, तो भी प्राचीन परंपरा की यह भावना अवश्य कुछ अंशों में शेष थी कि यदि कोई स्त्री पति का अंत हो जाने पर स्वयं भी प्राणोत्सर्ग कर देती है, तो वह बड़े सम्मान की अधिकारिणी है। पर लक्ष्मीबाई ने अपने उदाहरण से सिद्ध किया कि पति के साथ 'जल मरने की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा और श्रेष्ठ आदर्श यह है कि स्त्री अपने

पति के जीवन-कार्य को स्थिर रखे और आगे बढ़ावे। उन्होंनें पति की मृत्यु के बाद उनके वंश और राज्य को कायम रखने की पूरी चेष्टा ही नहीं की, वरन् अवसर आने पर ऐसा महान् कार्य कर दिखाया, जिससे उसके पति गंगाधर राव और झाँसी का नाम भी भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्थायी रूप से अंकित हो गया।

झाँसी का युद्ध—

जैसा ऊपर बताया जा चुका है झाँसी का शासन भार रानी लक्ष्मीबाई ने विशेष परिस्थितियों में ही सँभाला था और वह शांति स्थापना के बाद उसे अंग्रेज अधिकारियों के सुपुर्द करने को तैयार थी क्योंकि उसे अच्छी तरह ज्ञात था कि भारत का बड़े से बड़ा राजा भी युद्ध में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अधिक समय तक नहीं टिक सकता। पर उस समय के उत्तेजनापूर्ण और अविश्वास के वातावरण में उसकी सद्भावनाएँ कुछ भी काम नहीं आई और अंग्रेजों ने उसकी गिनती भी प्रधान विद्रोही नेताओं में कर ली। इसलिए जब आरंभिक पराजय के पश्चात् अंग्रेज अधिकारियों के पैर कुछ सँभले और इंगलिस्तान से नई सेनाएँ आ जाने से उन्होंने विद्रोह के 'सरदारों' को एक-एक करके कुचलना आरंभ किया, तो सर ह्यू रोज और सर राबर्ट हैमिल्टन के नेतृत्व में एक सुदृढ़ सेना महू (इंदौर) की छावनी से रवाना हुई और सिहोर, रोहतासगढ़, बरोदिया, सागर, सनोडा, गढ़ाकोटा, मदनपुर आदि स्थानों में विद्रोहियों को अधीन करती हुई १६ मार्च, १८५८ को झाँसी से १४ मील के फासले पर चंचनपुर नामक स्थान में पहुँचकर उसने अपना कैंप लगाया।

२० मार्च को प्रातःकाल ही सर ह्यूरोज अपनी सेना सहित झाँसी के समीप पहुँच गये। उनके सिपाहियों की संख्या तो कम थी, पर वे नये हथियारों से सुसज्जित, अनुभवी और अनुशासित थे। इधर रानी ने भी उनका मुकाबला करने की जोरदार तैयारियाँ की थीं। झाँसी का किला एक छोटी पहाड़ी पर बना हुआ बहुत मजबूत था। उसकी पत्थर और चूने से बनी दीवारों की मुटाई १६ से २० फुट तक है। बीच-बीच में तोपों के रखने के लिए बुर्ज बने हैं।

'गरगज' नाम का बुर्ज सबसे बड़ा, २० गज लंबा और चौड़ा तथा ६० गज ऊँचा था। उसके चारों तरफ तोपें लगी हुई थीं, जिनमें 'कड़क बिजली' 'घनराज' 'भवानी शंकर' 'नालदार' आदि नाम वाली कई तोप बहुत प्रसिद्ध थीं। शहर के चारों ओर भी एक मजबूत परकोटा था, जिसमें ५ बड़े फाटक थे और स्थान-स्थान पर बुर्ज भी थे जिन पर तोपें रखीं थीं।

जिस समय रानी और अंग्रेजों का युद्ध आरंभ हुआ उस समय किले और नगर में कुल मिलाकर कुल ११ हजार सेना थीं। इसमें अंग्रेजी फौजों के बागी सिपाही, नये भर्ती किये हुए जवान और पुराने नागा सैनिक सभी सम्मिलित थे। रानी ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए झाँसी के आस-पास के इलाके में न तो अन्न का एक दाना और एक पत्ता रहने दिया था, जिससे आक्रमणकारी सेना को सहायता मिल सके। पर ग्वालियर और ओरछा के राजाओं ने अंग्रेजी सेना के लिए रसद की पूरी व्यवस्था कर दी।

झाँसी का युद्ध २३ मार्च से आरंभ हुआ और १३ दिन तक रानी अंग्रेजी सेना का डटकर मुकाबला करती रही। जहाँ कालपी, कानपुर और ग्वालियर के प्रसिद्ध किले और विद्रोहियों के केंद्र अंग्रेजी सेना ने पाँच-पाँच, सात-सात दिन में जीत लिये, वहाँ झाँसी में अकेली रानी का इतने अधिक समय तक डटे रहना कम महत्त्व की बात नहीं थी। कारण यही था कि वह प्राणों की ममता त्याग कर निर्भयता से युद्ध कर रही थी। वह प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान पर स्वयं पहुँचकर युद्ध का संचालन करती थी और सिपाहियों को शाबासी और प्रेरणा देकर उनके उत्साह को बढ़ाती रहती थी। जब अंग्रेजी तोपों की गोलाबारी से किले की दीवार एक स्थान पर टूट गई, तो रानी के नेतृत्व में स्त्रियों और बच्चों ने घंटों तक परिश्रम करके उसकी मरम्मत कर दी। ये स्त्री बच्चे ही युद्ध-स्थान पर तैनात सिपाहियों को भोजन सामग्री पहुँचाते थे।

रानी ने अपनी सहायता के लिए नाना साहब के सेनाध्यक्ष तात्या टोपे को बुलाया। वह एक बड़ी सेना और २८ तोपों को लेकर

लड़ने भी आये। पर अंग्रेजी तोपों और बंदूकों की अग्निवर्षा के सामने उनकी सेना के पैर कुछ ही घंटों में उखड़ गये और अपने केंद्र स्थान कालपी को चले गये। झाँसी वाले फिर भी अंग्रेजों का मुकाबला करते रहे। ता० १ अप्रैल से सर ह्यूरोज ने अपना हमला तेज किया और दूसरी तारीख को किले की दीवार कई जगह से टूट गई। अब ३ तारीख को अंग्रेजी सेना ने किले पर अंतिम धावा बोला और टूटी हुई दीवार पर सीढ़ियाँ लगाकर चढ़ने का प्रयत्न किया। रानी की सेना ने भी प्राणपण से इनका प्रतिरोध किया और इस अवसर पर जैसा विकट संग्राम हुआ, वह अपने ढंग का अद्‌भुत ही था। उसका वर्णन करते हुये अंग्रेजी सेना के एक अफसर डॉ० लो ने लिखा है—

"शत्रुओं की अग्नि की मार अत्यंत प्रबल हो गई। बंदूक की गड़गड़ाहट, तोपों की गरज, अग्निबाणों की सरसराहट और भड़क बड़े-बड़े पत्थरों के गिरने की धमक, शैतानी-चखों की खड़खड़ाहट तथा बड़े भारी वृक्षों के नीचे लुढ़कने की ध्वनि से ऐसी प्रलय कांड की-सी अवस्था उत्पन्न हो गई कि एक बार अंग्रेजी सेना के पैर उखड़ गये और वे पत्थरों के पीछे जा छिपे। कुछ देर बाद सँभलकर वे फिर आगे बढ़े और प्राणों की ममता त्यागकर सीढ़ियों द्वारा किले के ऊपर पहुँचने का प्रयत्न करने लगे। इनमें से बहुतों के प्राण चले गये। कुछ गोली का शिकार हुए, कुछ ढकेल दिये गये और कुछ की गरदन उड़ा दी गई। दोनों ओर से अनुपम वीरता, बलिदान और साहस के दृष्टांत देखने में आये। अंत में अंग्रेजी झंडा किले पर लगा दिया गया, तब अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी ने नगर स्थित राजमहल पर धावा बोला। सड़कों पर एक-एक कदम पर युद्ध हुआ और अंग्रेजी सिपाहियों को जलते हुए मकानों के बीच से गुजरना पड़ा। महल के द्वार, चौक और प्रत्येक कमरे में उनका डटकर मुकाबला किया गया। जब तक महल के सब रक्षक न मारे गये तब तक अंग्रेज महल पर कब्जा न कर सके। फिर अस्तबल में भी भयंकर संग्राम हुआ, जिसने रानी के ५० अंगरक्षकों ने वीरगति पाई।"

इस समय रानी की वीरता को देखकर समस्त झाँसी अंग्रेजी सेना की विरोधी बनी थी और जनता के हजारों पुरुष, स्त्री, बच्चे भी किसी न किसी तरह इस संघर्ष में रानी का साथ दे रहे थे। पर जब ३ अप्रैल को किले और महल दोनों पर शत्रु का अधिकार हो गया तो सरदारों और मंत्रियों की सलाह से यह तय किया गया कि अब कालपी पहुँचकर अन्य विद्रोहियों के साथ मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला किया जाए। ४ अप्रैल को दो सौ सिपाहियों को साथ लेकर रानी उत्तरी दरवाजे से बाहर निकली और कालपी की तरफ चल दी। इस तरफ अंग्रेज ठीक तरह नाकेबंदी नहीं कर पाये थे। रानी ने इस समय मर्दाना पोशाक पहन रखी थी। शरीर पर अंगरखा, पैरों में पाजामा, सिर पर साफा, कमर में तलवार धारण कर अपने सफेद घोड़े पर सवार, वह एक नवयुवक की तरह ही जान पड़ती थी। अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव को उसने अपनी पीठ पर पटके से बाँध रखा था।

जब अंग्रेज अधिकारियों को रानी के बाहर निकल जाने का पता लगा तो उन्होंने कुछ सवार कप्तान वॉकर की अध्यक्षता में उसे पकड़ने को भेजे। झाँसी से २१ मील की दूरी पर भाँडेर के पास वॉकर रानी के पास पहुँचा। रानी अपना घौड़ा लौटाकर उससे टक्कर ली और धराशायी कर दिया। झाँसी से कालपी की दूरी १०२ मील है। इसे रानी ने २४ घंटे में पार कर लिया। उस समय नाना साहब के भतीजे राव साहब, तात्याटोपे, बाँदा के नवाब आदि पर वहीं पर एकत्रित थे। वे सब रानी को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और सब मिलकर अंग्रेजों से लड़ने की योजना बनाने लगे। वानपुर, शाहगढ़, जिगनी आदि के राजा भी अपनी सेनायें लेकर कालपी आ गए और उस समय वह विद्रोहियों का सबसे बड़ा केंद्र बन गया।

झाँसी की लूट—

जब रानी कालपी चली गई तो अन्य सैनिक भी, जो शेष बचे थे वहाँ से बाहर निकलकर विभिन्न दिशाओं में चल दिये। इस प्रकार झाँसी नगर को सर्वथा अरक्षित पाकर अंग्रेज सैनिकों ने लूटमार

आरंभ कर दी। जो नागरिक दिखाई पड़ जाता उसे मार दिया जाता और घरों में आग लगा दी जाती। महल में से तमाम कीमती वस्तुएँ और आभूषण लूट लिए गए। राजकीय पुस्तकालय को भी जला दिया गया। इस पुस्तकालय में बहुत से हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथ दूर-दूर से इकट्ठे किये गये थे, उन सबको अविवेकी सैनिकों ने कुछ ही घंटों में भस्म कर दिया।

लूट के बहुत से माल को छावनी में लाकर प्रतिदिन नीलाम किया जाता था। इसको लेने के लिए अंग्रेजों के खुशामदी राजा और रईसों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। ग्वालियर वालों ने भी बहुत-सा सामान खरीदा। तीन दिन तक गोरे सैनिकों द्वारा लूट कराने के पश्चात् अंग्रेजी सेना में काम करने वाले भारतीय सिपाहियों को लूटने का आदेश दे दिया गया। उन्होंने भी प्रजा के घरों को मनमाना लूटा। सात दिन तक वह इस तरह लूटमार होने के पश्चात् फौज को नगर से हटा दिया गया। इस नर-संहार में हजारों निर्दोष नागरिक जान से मारे गये और घायल हुये।

कालपी पर चढ़ाई और भयंकर युद्ध—

कालपी में विद्रोहियों के एकत्रित होने के समाचार जानकर सर ह्यूरोज भी उस पर आक्रमण की तैयारी करने लगे। उन्होंने अपनी सेना का पुनर्संगठन किया, लड़ाई का नया सामान मँगाया और १५ मई को कालपी से ६ मील के फासले पर गुलौली गाँव में जा पहुँचे। जमुना के ऊबड़-खाबड़ कगारों पर बना यह किला प्राकृतिक रूप से ही बहुत सुरक्षित था, फिर नगर के बाहर चौरासी गुंबद नामक किलेबंदी और सुदृढ़ परकोटे ने उसको और भी मजबूत बना रखा था। किले के भीतर सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों तथा गोला-बारूद का विशाल भंडार था और यहीं से आस-पास के समस्त विद्रोही केंद्रों को युद्ध-सामग्री भेजी जाती थी। उसके भीतर तोप, बंदूक ढालने का कारखाना भी था और उसकी मरम्मत के सब औजार इकट्ठे किए गए थे। खाद्य-सामग्री का एक बड़ा गोदाम भी यहीं पर था।

कालपी के इस महत्त्व को अंग्रेज अधिकारी और विद्रोही नेता—दोनों ही अच्छी तरह जानते थे। इसलिए राव साहब ने इसकी रक्षा के लिए चारों तरफ विभिन्न सेना दलों को नियुक्त किया था। एक ओर की सेना के अध्यक्ष बाँदा के नवाब थे, दूसरी ओर बरेली से आई हुई रुहेलों की पलटन थी, तीसरी ओर 'बंगाल नेटिव इन्फेंटरी' की विद्रोही सेना को रखा गया था। रानी लक्ष्मीबाई के साथ लाल वर्दी वाले २५० घुड़सवार स्वतंत्र रूप से उत्तर की तरफ रखे गये थे। ता० १५ मई को विद्रोहियों के एक दल से अंग्रेजी सेना की मुठभेड़ गुलौली के पास ही हुई। आरंभ में विद्रोही-सेना को कुछ सफलता मिली, पर बाद में जब अंग्रेजी सेना की अग्नि वर्षा ज्यादा तेज हुई तो वह पीछे हट गई। लक्ष्मीबाई को जब अपनी फौज की पराजय का हाल मालूम हुआ तो वह अपनी लाल वर्दी—सेना के साथ युद्ध भूमि की तरफ झपटी और अंग्रेजी फौज पर बंगाल की तरफ से हमला किया। उसकी मार से अंग्रेजी सेना में हलचल मच गई। रानी स्वयं घोड़े की लगाम दाँतों के बीच दबाये दोनों हाथों से तलवार चलाकर शत्रुओं का सफाया कर रही थी। उसकी अभूतपूर्व वीरता को देखकर पीछे हटने वाली विद्रोही-सेना को अपनी निर्बलता पर लज्जा आई और वे दूने जोश से अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े। अंग्रेजी सेना को संकट में देखकर सर ह्यूरोज और ब्रिगेडियर स्टुअर्ट ने ऊँट सवार फौज के एक दल को साथ लेकर कालपी की फौज पर भयंकर आक्रमण किया। उनकी गोली वर्षा को विद्रोही सेना सहन न कर सकी और पीछे हटकर किले के भीतर चली गई। अब दोनों अंग्रेजी सेनापतियों ने एक-एक सेनादल के साथ दोनों तरफ से कालपी पर आमण किया। विद्रोही सेना ने चार-पाँच दिन मुकाबला किया भी, पर उनका साहस प्रथम बार ही टूट चुका था। अब कालपी में ठहरना ठीक न समझकर राव साहब और लक्ष्मीबाई कुछ लोगों को साथ लेकर, वहाँ से निकल गये और कुछ दूर जाकर गोपालपुर में ठहरे। दो- चार दिन बाद तात्याटोपे भी, जो कालपी से अपने पिता

के देखने चले गये थे, वहाँ आ पहुँचे और सब मिलकर आगामी कार्यक्रम पर विचार करने लगे।

विद्रोही नेताओं की भूलें—

यह एक आश्चर्य की ही बात थी कि झाँसी में इधर-उधर के सिपाहियों को इकट्ठा करके रानी लक्ष्मीबाई सर ह्यूरोज की सेना का १३ दिन तक अच्छी तरह मुकाबला करती रहीं, पर कालपी मे उससे कहीं अधिक सुशिक्षित सेनायें और कई राजाओं तथा सरदारों के होने पर भी लड़ाई का फैसला एक दिन में ही हो गया और किले के भीतर भी विद्रोही सेना एक सप्ताह से अधिक न टिक सकी। इसका असली कारण था नेतृत्व का अभाव और अनुभव की कमी। सच पूछा जाय तो कितनी ही विद्रोही-टुकड़ियाँ सेना नहीं थी, वरन् केवल भीड़ थी। उनके संचालनकर्ता राजाओं और नवाबों ने कभी युद्ध देखा भी न था। सब आराम की गोद में पले हुए और महलों में गर्म गलीचों पर पैर रखकर चलने वाले थे। उधर अंग्रेजी सेनापति तथा अन्य अफसर पक्के सिपाही और युद्ध-विद्या के पूरे जानकार थे। उनको अनेक रणक्षेत्रों का अनुभव था और वे सेना को पूर्ण नियंत्रण में रखना जानते थे। यही कारण है कि एक हजार सेना लेकर बीस हजार विद्रोहियों का मुकाबला करने को तैयार हो जाते थे और फौजी दाव-पेंचों के बल पर सफलता प्राप्त कर लेते थे।

रानी लक्ष्मीबाई स्त्री होते हुए भी इन बातों को बहुत कुछ समझती थी। उसने कालपी आते ही राव साहब से कहा था कि बिना सुव्यवस्था और ठीक इंतजाम से हमारी जीत कभी नहीं हो सकती। प्रबंध की उत्तमता से ही झाँसी में अंग्रेजी सेना की जीत हुई है। उसके अफसर अपने काम में बड़े चतुर थे। उनके सिपाही युद्ध के मैदान में हमेशा जी खोलकर लड़ते थे। उन सब पर एक अफसर रहता था और उसी की आज्ञा से सब काम होता था। अतः जब तक आपकी सेना का इंतजाम ठीक न करेंगे तब तक अंग्रेजों से कभी नहीं जीत सकते। 'राव साहब' ने रानी सलाह की सराहना की और सेना को कई भागों में बाँटकर अलग-अलग उनकी ड्यूटी नियत की। पर वे

स्वयं इस संबंध में अनुभवहीन थे और फिर भी राजा-रईसों के लड़कों की तरह अपनी योग्यता को बहुत अधिक समझते थे। इसी झूठे अहंकार के कारण वे एकाध जगह थोड़ी सफलता मिलते ही फूल जाते थे और पेशवाई के सपने देखने लगते थे। उन्होंने कई बार समय और साधन मिल जाने पर भी उनका उचित प्रबंध और उपयोग न किया, वरन् समय और साधनों को ऊपरी शान-शौकत दिखाने के लिए जलसे, उत्सव आदि में नष्ट कर दिया, इसीलिए उनको अधिकांश स्थानों पर असफलता का ही मुँह देखना पड़ा और एक विशेष परिस्थितिवश देश में उत्साह और स्वतंत्रता की जो लहर उत्पन्न हुई थी, वह बहुत थोड़ा फल दिखाकर ही समाप्त हो गई।

अब इस मौके पर भी किसी नेता को यह नहीं सूझ रहा था कि आगे कौन-सा कदम उठाने से हम अपनी स्थिति को मजबूत कर सकेंगे और एक बार फिर शत्रु का सामना करने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे, तब रानी लक्ष्मीबाई ने सम्मति दी कि "अब कालपी या झाँसी पर अधिकार कर सकने की बात तो स्वप्नवत् हो गई। फिर भी हमको किसी न किसी किले का आश्रय लेना ही पड़ेगा, इसके बिना युद्ध का संचालन कभी अच्छी तरह नहीं हो सकता। इसलिए सब बातों पर सोच-विचार कर मैं ग्वालियर के किले को हस्तगत करके अंग्रेजों का मुकाबला करना ठीक समझती हूँ। वह सबसे अधिक मजबूत किला है। वहाँ की फौज दिल से विद्रोही हो चुकी है, जैसे ही हम वहाँ पहुँचेंगे वह ग्वालियर नरेश का पक्ष छोड़कर हमसे मिल जायगी।"

रानी की यह सलाह सबको पसंद आई और शीघ्र ही इसे कार्यान्वित करने के लिए सेना और युद्ध सामग्री एकत्रित करके विद्रोही १ जून को ग्वालियर के निकट मोरार तक जा पहुँचे। अब वहाँ के महाराज जीवाजीराव तथा उनके दीवान दिनकर राव बड़े संकट में पड़े। अभी तक वे बड़ी चतुराई से विद्रोहियों के दवाब को टालते रहे थे। जीवाजीराव तो एकाध बार विद्रोहियों से मिलने को तैयार भी हुए थे, पर दिनकर राव ने ही उनको सब कुछ ऊँचा-नीचा

समझाकर रोक रखा था। अब विद्रोही सेना के आमण कर देने से उनको सामने आना पड़ा और सात-आठ हजार सेना लेकर मैदान में आये। ग्वालियर का तोपखाना प्रसिद्ध फ्रांसीसी सेनाध्यक्षों की देख-रेख में बनाया और संगठित किया गया था। उसकी शक्ति अब भी पर्याप्त थी। उसकी मार के सामने आरंभ में राव साहब की सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देखकर रानी लक्ष्मीबाई ने एक सेना-दल को लेकर ग्वालियर की सेना पर धावा किया और उसकी हिम्मत को तोड़ दिया। बहुत से सैनिक जो पहले ही ग्वालियर नरेश की अंग्रेजों की तरफदारी की नीति से नाराज थे, उनका साथ छोड़कर विद्रोहियों से आ मिले। यह देखकर जीवाजीराव और दिनकर राव भाग खड़े हुए और आगरा पहुँचकर अंग्रेजी सरकार की शरण ली।

अब राव साहब, लक्ष्मीबाई, तात्याटोपे आदि का ग्वालियर पर सहज में अधिकार हो गया। वहाँ का खजाना और सैन्य-सामग्री विद्रोही-दल को मिल गई। ३ जून को राव साहब ने फूल बाग में बड़ी शान से दरबार किया, जिसमें सब सरदारों ने उनको पेशवा स्वीकार करके ताजीम की। इस अवसर पर उन्होंने खजाने का बहुत-सा धन लोगों को बाँटने में बरबाद किया। इस समय भी प्रबल शत्रु की तरफ से लापरवाह रहकर उन्होंने पहली गलती को दुहराया। लक्ष्मीबाई ने उनको बहुत समझाया कि अब जब कि ग्वालियर राज्य के साधन प्राप्त हो गये हैं, तो सब काम छोड़कर उन सबका उपयोग अपनी रक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाने में करना चाहिये, क्योंकि अंग्रेज अधिकारी चुपचाप नहीं बैठे रहेंगे। वे शीघ्र ही हम पर हमला करेंगे और हम उनका मुकाबला तभी कर सकेंगे जब हर तरह से तैयार रहें। पर राव साहब इस समय विजयोत्सव में मगन हो रहे थे। इस सलाह को सुनकर भी उन्होंने उस पर कुछ अमल नहीं किया।

१६ जून को ही सर ह्यूरोज की सेना मोरार के निकट आ पहुँची। एक विद्रोही सैन्य दल उसका मुकाबला करने को भेजा गया, पर वह दो ही घंटे में परास्त हो गया। ग्वालियर के विद्रोही सेना के कुछ अफसर रंग बदला देखकर फिर अंग्रेजों से जा मिले। यह दशा

देखकर रानी जीवन-मरण का ध्यान छोड़कर रणक्षेत्र में कूद पड़ी। १७ जून को ग्वालियर से ५ मील के फासले पर 'कोटा की सराय' नामक स्थान पर भीषण-संग्राम हुआ। रानी ने अपनी सेना की व्यूह-रचना बड़ी चतुरता से की थी और वह मर्दाने वेष में घोड़े पर सवार होकर स्वयं ही उसका नेतृत्व कर रही थी।

१७ जून को सुबह ही युद्ध का बिगुल बजा और घमासान युद्ध होने लगा। रानी की अलौकिक वीरता और अस्त्र-संचालन की कला को देखकर सब वाह-वाह करने लगे। पर उसके सब साथी अंग्रेजी सेना की गोली वर्षा से घायल होते या मरते जाते थे। रानी का घोड़ा भी कई गोलियाँ लगने से भाग खड़ा हुआ। भागता हुआ वह एक सूखे नाले के किनारे जा पहुँचा और उसे फाँदने की कोशिश करते हुए पैर फिसल जाने से गिर गया। एक सवार ने जो पीछा कर रहा था शीघ्रतापूर्वक पहुँचकर रानी पर तलवार का वार किया, जिससे चेहरे का आधा भाग कट गया। फिर भी उसने साहस न छोड़ा और पीछे फिरकर एक ऐसा हाथ मारा कि वह भी उसी जगह गिरकर मर गया।

रानी के घावों से बहुत खून बह रहा था और उसका शरीर बराबर शिथिल होता जाता था। यह देख उनका एक सरदार उनको उठाकर पास ही बनी एक झोंपड़ी में ले गया। उसमें बाबा गंगादास नाम के साधु रहते थे। रानी को प्यास लगी, तो बाबा जी ने उन्हें 'गंगाजल' पीने को दिया। कुछ देर बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये। अगले दिन उनके शव को घास के एक बड़े ढेर में रखकर आग लगा दी गई, जिससे वह भस्मसात् हो गया। अंग्रेज अधिकारियों को उनके मरने की खबर कई दिन बाद मालूम हुई, जिससे वे मन मसोसकर रह गये। अन्यथा इस वीरांगना ने उनको जिस प्रकार नाकों चने चबवाये थे और अकेले ही न मालूम उनके कितने वीरों को मौत के घाट उतारा था, उससे वे उसके ऊपर बड़ा खार खाये बैठे थे। यदि वह जीवित या मृतक किसी प्रकार उनके हाथ पड़ जाती तो वे उसकी अकथनीय दुर्दशा करते। पर वह सच्ची वीर और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने वाली थी। उसने शत्रुओं का सामना

होने पर भी कभी अपने प्राणों का मोह नहीं किया, इसीलिए वह अंत तक उनके चंगुल में न आ सकी।

किसी संस्कृत-सुभाषित ग्रंथ में एक श्लोक दिया गया है कि सिंह चाहे दो-चार वर्ष ही जीवित रहे, पर उसके शौर्य की प्रत्येक प्रशंसा करता है। पर कौआ सौ वर्ष जीने पर भी सिवाय जूँठन के और किसी श्रेष्ठ वस्तु का अधिकारी नहीं होता। यह उक्ति रानी लक्ष्मीबाई के जीवन पूर्णतः लागू होती है। यद्यपि वह केवल २४ वर्ष जीवित रही और इसमें भी जनता के सामने उसकी कार्यवाही केवल एक वर्ष के शासनकाल में प्रकट हुई। पर इसी बीच में उसने ऐसे काम कर दिखाये, जिनकी याद आज २४६ वर्ष बीत जाने पर भी ताजा बनी है और लाखों स्त्री-पुरुषों को प्रेरणा दे रही है।

उसकी प्रशंसा केवल इस बात के लिए नहीं है कि वह शस्त्र-संचालन में बड़ी निपुण थी अथवा अपूर्व साहसी थी। उससे बढ़कर तलवार चलाने वाले, युद्ध क्षेत्र के बीच अकेले लड़ने वाले हजारों क्षत्रिय और राजपूत पिछले दो-चार सौ वर्ष में हो चुके हैं, उसकी विशेष प्रशंसा इस बात में है कि उसने आरंभ में से ही अपने सामने आने वाले प्रत्येक कर्तव्य को निःस्वार्थ भाव से पूरा किया और अंत में मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य को पालन करने में स्वेच्छापूर्वक प्राणोत्सर्ग कर दिया है। उनको अपनी अंतिम विजय की तो आशा थी नहीं और इधर विद्रोह के प्रमुख संचालकों की योग्यता और महत्त्वकांक्षायें भी उनको इस महान् अभियान के लिए अपर्याप्त जान पड़ीं, इसलिए उन्होंने सर्वश्रेष्ठ मार्ग यहीं समझा कि इस विकट अवसर पर ही अपना बलिदान करके तत्कालीन और भावी देशवासियों के सम्मुख एक प्रेरणाप्रद उदाहरण उपस्थित कर दें। एक ऐसे जीवन की सराहना और कामना कौन नहीं करेगा जिसने जीवित और मृत दोनों अवस्थाओं में मित्र, शत्रु और उदासीन सबकी प्रशंसा पाई हो और अंतिम क्षण तक कर्तव्यपालन पर आरूढ़ रहकर पूर्ण आत्म-संतोष प्राप्त किया हो।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)